विभाजन की दैनिक हक़ीक़त
कानपुर की अख़बारी राजनीतिः 1940 का दशक[1]

सौम्या गुप्ता

राष्ट्र लाज़िमी तौर पर स्मृति और विस्मृति की क़वायद होते हैं। वे रस्मी जलसों के ज़रिए चीज़ों को याद रखते हैं और सामूहिक स्मृतिलोप के ज़रिए भुला देते हैं। अपनी आज़ादी की पचासवीं सालगिरह पर हिंदुस्तानियों ने कुछ ऐसी चीज़ों को याद करने का फ़ैसला लिया जिन्हें वे अब तक या तो दबा देते थे या भुला देते थे। जबकि अभिजात्य विमर्श के विकल्प के रूप में सबॉल्टर्न के उदय के बाद भले ही तमाम स्थापित द्वैधों को उल्टा न गया हो, उन्हें खोल तो ज़रूर गया है। इस दुरुस्ती क़वायद के लिए विभाजन के वृत्तांत को चुना गया जिसे धो-पोंछ कर हमारे राष्ट्रीय इतिहास से अलग कर दिया गया था। इस प्रकार आधी सदी बाद, भारतीय राज्य और भारतीय मानस में हमेशा मौजूद रहने वाले पाकिस्तान को नहीं बल्कि विभाजन को राजनीतिक लफ़्फ़ाज़ी और बौद्धिक बहस-मुबाहिसे, दोनों के केंद्र में जगह मिली।

ख़बर के रूप में पाकिस्तान और विभाजन दोनों का आकर्षण लगभग शुरू से ही स्थापित था। 1940 में अपने अल्प-परिभाषित जन्म से लेकर और तमाम परिभाषाओं से गुज़रते हुए 1947 तक, जबकि उसकी रंगत-सूरत कमोबेश साफ़ दिखायी देने लगी थी, पाकिस्तान का सवाल हर रंग और नस्ल के नेताओं के लिए राष्ट्रीय और स्थानीय रिसालों के पहले पन्ने पर जगह मिलने की जमानत था। पाकिस्तान के विचार के आधे-अधूरेपन के कारण उसकी रहस्यात्मक छवि और गहरी हो रही थी। इसने यूटोपिया से लेकर डिस्टोपिया तक का पूरा सफ़र तय किया। एक तरफ़ तो इसे भारतीय मुसलमानों और प्रकारांतर से भारत की हर समस्या का रामबाण हल बताया गया और दूसरी तरफ़ इसे उन्नति और आज़ादी की ओर भारत की यात्रा को रोकने वाली शैतानी साज़िश का नाम भी दिया गया। इस तरह पाकिस्तान और विभाजन को केंद्र में रख कर एक पूरा कथानक विकसित हो चला। भारत छोड़ो आंदोलन, क्रिप्स और कैबिनेट मिशन, राजगोपालाचारी योजना, माउंटबैटन योजना, आदि-आदि बड़ी-बड़ी राष्ट्रीय घटनाएँ एक के बाद एक घटती जा रही थीं जबकि स्थानीय घटनाओं का अपना ही एक सिलसिला और तर्क था। लेकिन उस समय का प्रेस जिस तरह इन सारी घटनाओं को पेश कर रहा था और जिस तरह आम लोग

इन बातों को ग्रहण कर रहे थे उसमें एक बुनियादी निरंतरता दिखायी देती है। विभिन्न 'घटनाओं' की ख़बरें पाकिस्तान के प्रिज़्म से अपवर्तित होकर ही आती थीं: पाठकों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता था कि वे ख़बर बनने वाली तमाम बातों को राष्ट्र, संस्कृति, धर्म, इतिहास और परंपरा के सर्वसमावेशी नज़रिए से ही देखने की कोशिश करें – और इन सारी श्रेणियों को पाकिस्तान के विचार की गिरफ़्त में माना जाता था या व्युत्क्रम से मुस्लिम लीग के हमदर्दों के बीच लाज़िमी तौर पर इन सबका साकार होना पाकिस्तान बनने पर ही निर्भर था।

इतिहासकारों ने अख़बारों का इस्तेमाल आम तौर पर विभिन्न दृष्टिकोणों और निष्कर्षों को अपने अभिलेखीय प्रमाणों की पुष्टि के लिए ही किया है। प्रिंट मीडिया से संबंधित अनुसंधान शायद ही राजनीकि पार्टियों से उनके संबंधों की पड़ताल से पढ़े गए हों या कि प्रेस पर राष्ट्रीय आंदोलन के क्या प्रभाव पड़े। प्रेस को ज्यादातर एक समकालीन टिप्पणीकार की तरह, राजनीतिक परिदृश्य में एक प्रकार के सहभागी प्रेक्षक की तरह ही पेश किया जाता रहा है और इसी सहभागी स्वरूप के चलते कथित रूप से अख़बारों को एक तटस्थ और वस्तुपरक ऐतिहासिक स्रोत की हैसियत नहीं बख़्शी गयी है। इसके अलावा अख़बार के अस्थिर, बकौल, बेनेडिक्ट ऐन्डर्सन 'वन-डे बेस्ट-सैलर' वाले - अनंतिम स्वरूप के कारण ही अख़बारों को वह नियामकता नहीं मिल पाती जो मुद्रित पाठों को प्राय: मिलती रही है।[2] लेकिन, अख़बारों को लोकचेतना की कसौटी के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता रहा है। परंतु विरले ही ऐसा हुआ है कि अख़बारों को ऐतिहासिक बदलाव के कर्ता की भूमिका दी गयी हो, ऐसे एजेंट जो घटनाओं की नक़्शानबीसी करने वाली वैमर्शिक संरचनाओं को बनाने में लगे-जुटे हों।

अख़बार आधुनिकता की उपज हैं। ये अख़बार ऐसी सूचनाएँ पेश करती हैं जो फ़ौरी और कारगर हों। प्रिंट के रूप में ख़बरों के प्रसार के लिए सूचनाओं के संग्रह और डिस्पैच में कुशलता और तेज़ी बहुत मायने रखती है। घटनाओं को ख़बर का रूप प्रदान करने वाली यह सामयिक प्रक्रिया अमूमन परोक्ष होती है। हम यह भी भूल जाते हैं कि 'दैनिक' जो ख़बर देता है वह भी कम से कम एक दिन बासी तो होती ही है।[3] लेकिन देर से आने वाली इस ख़बर में भी एक तरह की ताज़गी होती है – पाठक के लिए वह घटना तभी घटती है जब वह छप कर उसके सामने आ जाती है। इसके अलावा अख़बार के भीतर किसको कहाँ जगह मिलती है इससे भी किसी घटना की सापेक्ष अहमियत तय हो जाती है: अगर कोई ख़बर पहले पन्ने के बाएँ (उर्दू अख़बारों के मामले में दाहिने) सिरे पर मोटे अक्षरों में छपती है तो इसका मतलब है कि वह सबसे महत्त्वपूर्ण ख़बर है। वह ख़बर तब तक इस अहम मुकाम पर रहती है जब तक कि ऐसी ही कोई और ख़बर उसे भीतरी पन्नों पर या अख़बार से बाहर और अंतत: पाठक के मानस से बाहर नहीं ढकेल देती। इस तरह ख़बरोत्पादन का फ़ॉर्मेट ख़बरों की ग्राह्यता का दायरा ख़ुद ही तय कर देता है। समाचार मूल्य और समाचारी फ़ैसले न केवल हमारी सोच को कुछ ख़ास विषयों की ओर आकर्षित करते हैं बल्कि अन्य विषयों से हमें विकर्षित भी करते हैं और इस प्रकार दुनिया के हमारे ज़हनी नक़्शे को तय करने में अहम भूमिका निभाते हैं। राजनीति की परिधि में वे विपक्ष को परिभाषित तो करते ही हैं उसे परिभाषेतर बना कर कूड़ेदान में भी फेंक देता है।[4]

कोई चीज़ ख़बर बनने के योग्य है या नहीं इसका विश्लेषण करने पर पता चलता है कि सूचनाओं का चयन और उनकी प्राथमिकता बेमक़सद नहीं होती। इसके पीछे समाज के स्वरूप, उसमें सत्ता केंद्रों की समझ और इस बात की समझ मौजूद रहती है कि उस सत्ता का किस तरह इस्तेमाल किया जा रहा है या किस तरह किया जाना चाहिए। स्टुअर्ट हॉल के अनुसार, ख़बर-योग्यता की प्रमुख श्रेणियों – अभिजात्य वर्ग, सरकार, राजनीतिक दल – सभी के पास उन समाजिक संरचनाओं का दैनंदिन ज्ञान होता है जो उन्हीं के भीतर अंकित होती हैं। "अपने श्रोताओं की समझ में आने के लिए प्रेस को इस बात का अनुमान होना चाहिए कि एक वर्तमान या अमूर्त संरचना के रूप में क्या-क्या पहले से ही ज्ञात है, लेकिन (यह संरचना) दुनिया के बारे में एक निर्मिति व्याख्या होती है।"[5]

यानी जिसे सत्य के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा होता है वह भी महज़ एक 'व्याख्या' ही होती है। चालीस के दशक के औपनिवेशिक भारत में भी कमोबेश ऐसी ही स्थिति थी। बहुत सारे लोगों के लिए शेष दुनिया के साथ राब्ता रखने का एकमात्र ज़रिया प्रेस ही था। उस वक़्त के ज़्यादातर अख़बार खुल्लम-खुल्ला किसी न किसी की तरफ़दारी करते थे (बेशक, औपनिवेशिक कैंची पर सबकी नज़र होती थी), हालाँकि इस पक्षपात को राष्ट्रीय आंदोलन की सेवा के रूप में महिमामंडित किया जाता था। अनकहा तर्क कुछ यूँ था कि राष्ट्र का निर्माण तभी किया जा सकता है जब 'राष्ट्रीय तथ्यों' के बारे में सबको पता हो। प्रेस, ख़ास तौर से देसी प्रेस का एक ही मक़सद था – घटनाओं के वांछित राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को उन घटनाओं को समझने के एकमात्र तरीक़े के रूप में पेश करना। बहुधा ऐसा होता था कि किसी छोटे-मोटे कस्बे में प्रेस के ज़रिए पहुँचने वाला सच ही घटनओं का एकमात्र बयान होता था।

किसी विषय, मसलन, पाकिस्तान–के बारे में टिप्पणी करते हुए और उसे लगातार दोहराते हुए प्रेस दरअसल ख़ास तरह की छवियाँ गढ़ देता है। टकसाल के सिक्कों की तरह ये छवियाँ समय के साथ जनता में स्वीकार्यता पा लेती हैं और महज़ किसी एक शब्द के ज़िक्र से या अतीत की किसी ख़बरिया कतरन की चर्चा भर से व्यक्ति के ज़हन में वह छवि कौंध जाती है। अहम बात ये है कि इस छवि को अतार्किक मनगढ़ंत कहकर ख़ारिज नहीं किया जा सकता। भले ही कुछ लोग प्रेस की प्रामाणिकता पर सवाल खड़ा करें लेकिन ऐसे लोग बहुत कम होंगे जो मानते हों कि जिस घटना के बारे में रपट छपी है वह किसी और ढंग से घटी होगी। "सेकेंड हैंड दुनिया में रहने वालों के लिए ... प्रतीक अनुभवों पर फ़ोकस करते हैं (और) अर्थ ज्ञान को व्यवस्थित करते हैं, और इस तरह एक क्षण मात्र का सतही नज़रिया एक पूरे जीवन की आकांक्षाओं से महत्तर हो जाता है।"[6]

ऐसे परिवेश में औरों के ज़रिए मिलने वाली जानकारियों पर निर्भरता कई गुना ज़्यादा बढ़ चुकी थी जहाँ साक्षरता का स्तर बहुत कम था हालाँकि राजनीतिक हिस्सेदारी बहुत ज़्यादा थी। पर्चे-पोस्टरों के अलावा अख़बार ही नेताओं और राजनीतिक पार्टियों के बारे में जानकारी का बुनियादी ज़रिया थे। इनके अलावा जनसंचार का एकमात्र ज़रिया जनसभाएँ होती थीं जो अकसर राष्ट्रीय महत्त्व की घटनाओं या आपदाओं से संबंधित रपटों (जिनका मुख्य स्रोत अख़बार ही थे) की प्रतिक्रिया में आयोजित की जाती थीं। लगभग 1946 से 1948 के बीच जब तक़रीबन पूरा देश दंगों की चपेट में था, उस दौरान कानपुर में जश्न या शोक के अनगिनत 'दिवस' मनाए जा रहे थे। नोआखली में हिंदुओं के साथ हुई हिंसा की प्रतिक्रिया में नोआखली दिवस मनाया गया, मुसलमानों के ख़िलाफ़ हुई हिंसा के जवाब में बिहार दिवस (यौम-ए-बिहार) मनाया गया और पाकिस्तान दिवस के जवाब में कोई हिंदुस्तान दिवस नहीं बल्कि पंजाब दिवस मनाया गया। ये दिवस स्थानीय अख़बारों में क़त्लेआम या दंगों की ख़बरें छपने के बाद मनाए जा रहे थे। ऐसी सभाओं का आयोजन भी अपने आप में एक ख़बर बन जाता था कि स्थानीय अख़बारों में उनका छपना लाज़िमी बन जाता था और जो फिर अकसर दूसरी रपटों और घटनाओं का स्रोत बन जाती थीं। इन 'श्रव्य' सभाओं और मुद्रित सामग्री के बीच ऐसे प्रत्यक्ष संबंधों के परे श्रव्यता छपाई और साक्षरता के साथ स्वच्छंद और अहम तौर पर गड्ड-मड्ड हो जाती थी। अख़बारों का सबसे बड़ा 'पाठक-वर्ग' इन घटनाओं और रपटों को सुनता था जिसके लिए उन्हें शुद्ध भाषा से विविध क्षेत्रीय, स्थानीय बोलियों में तब्दील कर दिया जाता था और जाने-पहचाने, बल्कि अकसर पारिवारिक मुहावरों और उपमाओं के ज़रिए समझाया जाता था।[7]

स्थानीय स्तर पर पाकिस्तान और तक़्सीम के मुताल्लिक़ बनी इन छवियों को उघाड़ने और उनको प्रश्नांकित करने के लिए ही मैंने *वर्तमान* का सहारा लिया है जो 1940 के दशक में कानपुर से छपने वाला बेहद लोकप्रिय अख़बार था। इस अख़बार के पन्नों में विभाजन-गाथा विभिन्न स्तरों पर मंचित हुई और पाकिस्तान की स्थापना से पहले ही उसे नाना रूपों में स्थापित किया जा चुका था। अपने ख़ास अंदाज़ में *वर्तमान* ज्ञान की एक ऐसी परिधि की रूपरेखा रचने में संलग्न था जो हिंदुस्तान और पाकिस्तान,

राष्ट्र और समुदाय, धर्म और व्यक्ति, हिंदु और मुसलमान, और उनसे भिन्न 'अन्यों' के इर्द-गिर्द घूमती थी। हालाँकि यह चरित्र-चित्रण सालों में पुख्ता हुए थे लेकिन पाकिस्तान ने उन्हें एक विचित्र कर्कशता और अड़ियलपन प्रदान कर दिया था। चूँकि *वर्तमान* कानपुर में इस विमर्श को तय करने में संलिप्त था और जिस हद तक वह इस विमर्श का हिस्सा था उसी हद तक इसमें पाकिस्तान के पक्ष और विपक्ष में चलाए जा रहे आंदोलनों की जटिलता को समझने का स्रोत भी मिलता है।

चालीस के दशक तक *वर्तमान* कानपुर की पत्रकारिता के मैदान में एक प्रभावशाली वजूद क़ायम कर चुका था। तक़रीबन दो दशक तक कानपुर से लगातार छपने वाले पहले और एकमात्र दैनिक *वर्तमान* ने कानपुर से ही छपने वाले अपेक्षाकृत ज़्यादा जाने-माने *प्रताप* के मुक़ाबले खुद को आम जनता के अख़बार के रूप में प्रतिष्ठित किया। अख़बार के स्वामी और संपादक रमाशंकर अवस्थी इसे ख़ास कानपुरिया मुहावरे में ढालने के प्रति शुरू से ही सावधान थे। तक़रीबन सारे पन्नों पर स्थानीयता का बोलबाला रहता था। राष्ट्रीय ख़बरें महत्त्वपूर्ण तो थीं लेकिन *वर्तमान* के लिए उनका स्थानीय असर कहीं ज़्यादा मायने रखता था। ग़ौरतलब यह है कि जिस प्रक्रिया के ज़रिए किसी राष्ट्रीय घटना को स्थानीय भाषा में रूपांतरित किया जाता था वह *वर्तमान* में बिल्कुल पारदर्शी थी। उसे छिपाने की कोई कोशिश नहीं की जाती थी। इस अख़बार की रपटें तीन चरणों में पूरी होती थी। पहला चरण वह होता था जब कोई घटना ख़बर के तौर पर पहले पन्ने पर जगह पाती थी।[8] ख़बर का ध्यानाकर्षक शीर्षक उसके बारे में अख़बार की और शायद उसके पाठकों की प्रतिक्रिया की झलक दे देता था। दूसरा चरण दो दिन बाद सामने आता था: टिप्पणी के लायक़ समझे जाने वाले सबसे अहम ख़बर पर एक लंबा-सा संपादकीय छपता था। यह संपादकीय 'ख़बर' के महत्त्व या उसकी महत्त्वहीनता को रेखांकित करते हुए उसे उसके ऐतिहासिक संदर्भ में स्थित करता था। यहाँ से *वर्तमान* के पाठकों को यह संदेश मिल जाता था कि संबंधित घटना/ख़बर का 'सही' मतलब क्या है और उसे कैसे समझा जाना चाहिए। तक़रीबन दो ही दिन बाद तीसरा चरण सामने आता था जिसमें *मनोरंजन* नामक दैनिक व्यंग्यात्मक कॉलम में उसी संपादकीय को लोकमानस के हिसाब से सरल ढंग से पेश कर दिया जाता था। बातचीत और बेलौस माख़ौल के अंदाज़-ए-बयान के ज़रिए संपादकीय दलील को स्थानीय रंग दे दिया जाता था और उसे स्थानीय सहज-ज्ञान के स्तर पर स्थापित कर दिया जाता था।

कानपुर में वर्तमान का अपना एक हिंदू बहुल श्रोता वर्ग था। मुख्यत: सवर्ण (हालाँकि हमेशा उच्चवर्गीय नहीं) यह पाठक वर्ग कानपुर में राजनीतिक दृष्टि से काँग्रेस और कानपुर में उसके दो धड़ों–तथा स्थानीय हिंदू सभा के बीच बँटा हुआ था। इस विभाजन को ध्यान में रखते हुए अख़बार हमेशा एक नाज़ुक संतुलनकारी उद्यम में लगा रहता था। हालाँकि प्रच्छन्न रूप से अख़बार हिंदू सभा की हिमायत में था लेकिन नेहरू और गांधी जैसे राष्ट्रीय क़द के नेताओं की वजह से पलड़ा हमेशा काँग्रेस के पक्ष में झुका रहता था। लेकिन आम तौर पर *वर्तमान* फूँक-फूँक कर ही क़दम बढ़ाता था – हिमायत काँग्रेस की और गलबहियाँ हिंदू सभा के साथ। यह अख़बार काँग्रेस के दक्षिणपंथी धड़े को बिल्कुल मुफ़ीद मंच मुहैया कराता था जो 1945 तक आते-आते कानपुर के सार्वजनिक विमर्श पर पूरी तरह हावी हो चुका था।

जिस समय सी राजगोपालाचारी ने यह दलील दी कि पाकिस्तान की माँग पर तर्कसंगत ढंग से विचार किया जाना चाहिए और उन्होंने गांधी को भी जिन्ना से बातचीत करने के लिए राज़ी कर लिया, तब से ही *वर्तमान* के पन्नों में पाकिस्तान की अनुगूँज चारों तरफ़ सुनायी देने लगी। हालाँकि खुद जिन्ना की नज़र में पाकिस्तान की शक्ल-सूरत अभी भी साफ़ नहीं थी लेकिन *वर्तमान* का पाकिस्तान स्पष्ट रूप से एक ऐसा सर्वसमावेशी महाविनाश था जो भारत को अपनी चपेट में लिए बिना नहीं रहेगा। अख़बार की नज़र में यह आत्महत्या की एक कोशिशि थी "जिसकी भीषणता से हज़ारों गांधी भी भारत, उसके इतिहास और उसकी संस्कृति की रक्षा नहीं कर पाएँगे।"[9] बंबई में जिन्ना के घर जाकर उनसे

मिलने के प्रस्ताव पर गांधी की सहमति को इस तरह पेश किया गया मानो गांधी ने पाकिस्तान की माँग को अपनी मंज़ूरी दे दी हो। इसके अलावा, 'गांधी का मुस्लिम प्रेम' और 'आत्मसमर्पण की कला में उनकी महारत' इस बात का संकेत थी कि इस तरह की बैठकों से विशुद्ध पाकिस्तान की स्थापना हुए बिना नहीं रहेगी। गांधी के प्रस्तावों पर जिन्ना के दो–टूक जवाबों ने जले पर नमक छिड़कने का काम किया। जब वार्ता टूट गयी तो इसका स्वाभाविक उत्साह के साथ स्वागत किया गया। 'सब अच्छा ही हुआ!' – इस घटनाक्रम पर अख़बार का फ़ैसला था।

वर्तमान की नज़र में पाकिस्तान सिर्फ़ मुस्लिम सांप्रदायिकता का पर्यायवाची भर नहीं था हालाँकि उसकी प्राथमिक विशेषता यही थी। जब 'पाकिस्तान' की शक्ल–सूरत भी साफ़ नहीं हो पायी थी उसी दौर में उसके विचार मात्र से परेशानी की वजह ये थी कि उसने भारतीय राष्ट्रवाद के साकल्यवादी वृत्तांत पर सवाल खड़ा कर दिया था। *वर्तमान* ने पाकिस्तान को दूषित हवा के रूप में गढ़ा था: इसने राष्ट्रवाद की श्रेणी को पूरी तरह अस्त–व्यस्त कर दिया था और उसे राजनीतिक फलक पर तमाम दूसरे समूहों के लिए उपलब्ध और उजागर कर दिया था। अख़बार ने काफ़ी पहले ऐलान कर दिया था कि "पाकिस्तान की माँग को मान लेने से बँटवारों का कभी न ख़त्म होने वाला सिलसिला शुरू हो जाएगा। हम कभी चैन से नहीं बैठ पाएँगे ...। सारे अल्पसंख्यक आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग करने लगेंगे। तब हम उन्हें कैसे रोकेंगे? बल्कि औरतें भी ... एक दिन अलग जनानिस्तान की माँग करने लगेंगी।"

मुस्लिम लीग के द्विराष्ट्र सिद्धांत का जवाब देने के लिए *वर्तमान* ने भारत को (लगभग) एक ऐसी बहुराष्ट्रीय इकाई के रूप में स्थापित कर डाला जो काँग्रेस के नेतृत्व में आधुनिकता और प्रगति की राह पर बढ़ रहा था। चिरंतन लेकिन खंडित भारत में राष्ट्रवाद का भाव जगाने के बुनियादी काम के चलते ही राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य पर काँग्रेस के एकाधिकर (की कोशिश) को वैधता मिली हुई थी। क्योंकि पाकिस्तान ने इस एकाधिकार को चुनौती देकर भानुमति का पिटारा खोल दिया था इसलिए राष्ट्रवादी विमर्श का बुनियादी पुनर्गठन ज़रूरी प्रतीत होने लगा था। अब यह आवश्यक हो गया था कि या तो काँग्रेस द्वारा प्रस्तुत किए गए आदर्श की सीमाओं के परे जाकर राष्ट्र की तर्कमूलक सीमाओं को संशोधित/विस्तारित किया जाए या विभिन्न प्रतिस्पर्धी समूहों/राष्ट्रों को एक पदानुक्रमिक (न कि समेकीकृत) राष्ट्रवाद में अनुशासित और अधिग्रहित किया जाए। *वर्तमान* दूसरे वाले विकल्प के हक़ में था। उसने इस दिशा में बढ़ने का एक ख़ाका भी सुझा दिया। यदि काँग्रेस राष्ट्रवाद के आधुनिक, निर्मित संस्करण ('स्वाधीनताप्रिय') का प्रतिनिधित्व करती थी तो हिंदू महासभा हिंदू समुदाय में अंतर्निहित ('स्वाभाविक') राष्ट्रवाद का प्रतिनिधित्व करती थी। हिंदू महासभा के सदस्यों, अम्बेडकरवादियों, दलितों और ऐसे ही अन्य समूहों को ख़ालिस 'स्वार्थवादी' राष्ट्रवादी घोषित कर दिया गया जबकि मुस्लिम लीग को शृंखला की सबसे निचली पायदान पर जगह दी गयी जो फ़र्ज़ी सिद्धांतों पर आधारित 'पथप्रष्ट' राष्ट्रवाद–बल्कि सांप्रदायिकता–का प्रतिनिधित्व करती थी, जिसके पास स्वतंत्रता संघर्ष में योगदान की कोई विरासत नहीं थी और जिसने राष्ट्र के लिए कोई क़ुर्बानी नहीं दी थी।

यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है कि इस तरतम विन्यास में अतीत और भविष्य, दोनों को ध्यान में रखा गया था और वर्तमान की रूपरेखा भी बड़ी दक्षता से खींची गयी थी। स्वाधीनताप्रिय विभाजन–पाकिस्तान–के लिए तैयार हो सकते थे लेकिन राष्ट्रवादी कतई ऐसा नहीं कर सकते थे क्योंकि उनके लिए देश की भौगोलिक अखंडता उतनी ही प्रिय थी जितना भौगोलिक दृष्टि से खंडित स्वतंत्रता से उन्हें घृणा थी। क्योंकि स्वतंत्रता और अखंडता दोनों ही अपेक्षित लक्ष्य थे इसलिए राजनीतिक गतिरोध को केवल तभी तोड़ा जा सकता था जबकि राष्ट्रवाद की ये दोनों श्रेणियाँ पृथक और परस्पर विरोधी राजनीतिक धाराओं के रूप में काम करने की बजाय एक–दूसरे से आदान–प्रदान करती रहें। केवल तभी, बहुमत के भार मात्र से – सच्चा राष्ट्रवाद सच्ची मुक्ति को साकार कर सकता है और किसी भी तरह के पाकिस्तान, अछूतिस्तान या (ख़ुदा न करे!) जनानिस्तान को नेस्तनाबूद किया जा सकता है। इस

वैचारिक संगम का आह्वान करते हुए *वर्तमान* का अंदाज़ पैग़म्बरों वाला हो जाता था। मसलन, अख़बार के पन्नों में वीर सावरकार की उस अपील को जगह मिली जिसमें उन्होंने कांग्रेसियों को हिंदू महासभा में शामिल होने का निमंत्रण दिया था। और इसके महज़ बीसेक दिन बाद सरदार पटेल का वह निमंत्रण छपा जिसमें उन्होंने 'भारत की एकता और अखंडता' के लिए चल रहे अपने संघर्ष में साथ देने के लिए हिंदू महासभा वालों को कांग्रेस में दाखिल होने का आह्वान किया था।

चूंकि तब तक पाकिस्तान सिर्फ़ नेताओं के बयानों में ही अस्तित्व में था इसलिए *वर्तमान* ने भी अपनी दलीलों को उन्हीं की मार्फ़त खड़ा किया। *वर्तमान* का वृत्तांत गांधी और जिन्ना, इन दो धुरों से लटका था। लगभग 1944 तक जिन्ना को मोटे तौर पर एक मजबूत और शक्तिशाली नेता के तौर पर देखा जाता था जो गांधी और काँग्रेस की मुट्ठी से 'ब्लैंक चेक' छीन सकते थे। संयुक्त प्रांत की खंडित मुस्लिम राजनीति में उनकी स्वीकृत श्रेष्ठता को देखते हुए हिंदी प्रेस भी उनके महिमामंडन में पीछे नहीं था। यह दिलचस्प बात है कि यद्यपि उन्हें आपसी मारकाट मचाते (*वर्तमान* जिसकी चटखारे लेकर रिपोर्टिंग किया करता था) एक काग़ज़ी संगठन के नेता के रूप में दर्शाया जाता था। लेकिन मुस्लिम समुदाय पर जिन्ना की पकड़ पर कभी कोई संशय व्यक्त नहीं किया गया। बल्कि उन्हें मसीहा की तरह पेश किया जाता था: "जिन्ना साहब मुसलमानों में उतने ही लोकप्रिय हैं जितना गांधीजी काँग्रेसियों के बीच।" लेकिन, "गांधीजी के विपरीत, जिन्ना अहंकारी, आक्रामक व धर्मांधों के समुदाय का नेतृत्व कर रहे हैं। धर्म से आपस में बँधे और अपनी आस्था की ताक़त से मजबूर ये लोग काफ़िरों के सफ़ाए के लिए कुछ भी कर सकते हैं।" मुसलमानों के इस जुनूनी पागलपन के करेले पर चढ़े 'पिछड़ेपन' के नीम के चलते उन्हें राष्ट्रवादी सोच के लायक़ ही नहीं माना जा सकता था। जिन्ना के पाकिस्तान की मांग पर अड़े रहने के कारण उनकी छवि भी नकारात्मक हो गयी। 1944-47 के दौरान *वर्तमान* जिन्ना को एक तर्कविमुख और ज़िद्दी पागल के तौर पर चित्रित करता रहा। और तो और, उनके महत्त्वहीन वक्तव्यों/भाषणों को भी पहले पन्ने पर जगह दी जाती थी और हमेशा पाकिस्तान का ज़िक्र ज़रूर किया जाता था। चालीस के दशक के मध्य तक आते-आते पाकिस्तान के विचार के जन्मदाता की छवि के सिवाय जिन्ना की कोई और पहचान बाक़ी नहीं बची थी। पाकिस्तान के हवाले से जिन्ना को एक ऐसे बालक की तरह पेश किया जाता था जो अपने बाप का बाप बनने की कोशिश कर रहा है।

दूसरी तरफ़ गांधी मोटे तौर पर हिंदुओं का नेतृत्व कर रहे थे जो *वर्तमान* की राय में उदासीन, सुप्त राष्ट्रवादियों का समुदाय था, एक ऐसा समुदाय जिसका "राजनीतिक आचरण कायरता में, और धार्मिक उत्साह काहिली में डूबा हुआ है और जो सामाजिक तौर पर छिन्न-भिन्न है।" संक्षेप में, एक ऐसा समुदाय, जो अपनी अकर्मण्यता को सहिष्णुता का नाम देकर गंगा नहा लिया था। हालाँकि शुरुआत में अख़बार का स्वर गांधी के बारे में उस दौर के बाक़ी अख़बारों की तरह आदर वाला ही था लेकिन जैसे-जैसे जिन्ना बहस के केंद्र में आते गए वैसे-वैसे गांधी के व्यक्तित्व की भी चमक फीकी पड़ती गयी। गांधी और जिन्ना को क्रमशः चैम्बरलेन और हिटलर की उपमा दी जाने लगी, मानो हिटलरी मंसूबे रखने वाले जिन्ना को ख़ुश करने के लिए गांधी चैम्बरलेन की तरह झुकते ही चले जा रहे हों। जिन्ना से बातचीत करने पर रज़ामंदी दे देने को भी जिन्ना के मंसूबों को मान लेने की संज्ञा दी गयी क्योंकि मुसलमानों को 'प्यार' करने के साथ-साथ गांधी "आत्मसमर्पण की कला में (भी) माहिर हैं।" लेकिन उनका व्यक्तिगत अधिकार अभी भी इतना था कि वे न केवल राष्ट्र को अपने साथ लेकर चल सकते थे बल्कि कांग्रेस को भी अपने फ़ैसले मानने के लिए बाध्य कर सकते थे। एक बार गांधीजी के मान लेने के बाद कोई पाकिस्तान को अस्तित्व में आने से नहीं रोक सकता। इसलिए यह ज़रूरी था कि गांधी पर लगाम कसी जाए, उन्हें कमज़ोर किया जाए। उन्हें बार-बार उनके बुढ़ापे की याद दिलायी जाती और यह सलाह दी जाती कि उन्हें अपने बाक़ी दिन शांति से बिताने चाहिएँ। उन्हें उनकी वह शपथ याद दिलायी जाती जिसमें उन्होंने कहा था कि पाकिस्तान उनकी लाश पर ही बनेगा। देश की तमाम राजनीतिक और

सांप्रदायिक समस्याओं के लिए उन्हीं को ज़िम्मेदार ठहराया जाता और आरोप लगाया जाता कि ये सारी समस्याएँ इसीलिए पैदा हुई हैं क्योंकि वे मुसलमानों की ख़ुशामद का रास्ता छोड़ने को तैयार नहीं हैं। यह भी विभाजन का प्राक्-इतिहास था जिसके केंद्र में धर्मांध मुसलमान नहीं बल्कि स्वयं गांधीवादी राजनीति को रखा जा रहा था।

मुसलमान की सोच के साथ *वर्तमान* का यह दिलचस्प संवाद सिर्फ़ बड़े-बड़े नेताओं तक ही सीमित नहीं था। उसने अपने विमर्श को क्रमिक रूप से फैलाया हुआ था। *वर्तमान* विभाजन/मुसलमान से राष्ट्रीय, प्रांतीय और स्थानीय स्तर की राजनीति के स्तर पर भी लोहा ले रहा था। *वर्तमान* में ऐसे मुसलमानों को बड़े सम्मान से छापा जाता था जो पाकिस्तान के विरोधी थे। संयुक्त प्रांत में ये मुख्य रूप से ऐसे समूह थे जो जमायत-उल-उलेमा या मोमिन, अहरार और ख़ाकसर आदि समूहों से जुड़े हुए मौलवियों के नेतृत्व में चल रहे थे। ऐसी ख़बरों को पूरी तवज्जो दी जाती थी: मोटे अक्षर, प्रशंसापूर्ण संपादकीय, संपादकीय पृष्ठ पर आलेख, और ह्मनोरंजनह में वाहवाही – एक मुसलमान ये हैं, एक आप (लीगी) हैं। लेकिन सिर्फ़ चाहने से किसी ख़बर में ख़बर वाली बात पैदा नहीं हो जाती। जल्दी ही यह ज़ाहिर हो गया, ख़ास तौर से शिमला काँग्रेस के बाद, कि क़ायदेआज़म और उनके स्वप्नलोक के खिलाफ़ ये महज़ हाशियाई आवाज़ें हैं। जब यह साफ़ दिखने लगा कि भारतीय राष्ट्र और काँग्रेस में ऐसे मुसलमानों की आस्था के आधार पर भी अँग्रेज़ लीग को नज़रअंदाज़ करने को तैयार नहीं हैं तो अख़बार ने उनकी सियासत में नाममात्र की दिलचस्पी भी छोड़ दी। सरकारी वज़न और जनसमर्थन से महरूम ये 'अन्य' मुस्लिम आवाज़ें अब ख़बर नहीं रहीं।

इससे कहीं ज़्यादा समय तक ख़बरों में रहने वाले ग़ैर-लीगी मुसलमानों में सबसे प्रमुख थे राष्ट्रवादी मुसलमान। मुसलमानों में सिर्फ़ राष्ट्रवादी मुसलमानों को ही विवेकसम्मत माना जाता था और वे काँग्रेस की धर्मनिरपेक्ष छवि के प्रतीक की तरह पेश किए जाते थे। मुस्लिम लीग और उसके समर्थक ऐसे मुसलमानों का मज़ाक उड़ाते थे लेकिन हिंदी प्रेस उन्हें बच्चों की तरह बड़े प्यार से देखता था। ये 'अन्य' लोग थे जिन्होंने अपने अन्यपने से मुक्ति पा ली थी: भारतीय राष्ट्रवाद के साझा स्वरूप की इससे बेहतर मिसाल और भला क्या हो सकती थी कि 'अन्य' राष्ट्र के सदस्य भी 'हमारी' जबान बोलने लगें। *वर्तमान* के पन्नों में आज़ाद, हुमायूँ कबीर, रफ़ी अहमद किदवई, हामिद ख़ान, और अब्दुल क़य्यूम को प्रमुखता से जगह दी जाती थी। कानपुर के प्रांतीय चुनावों में लीगियों और राष्ट्रवाद मुसलमानों के बीच खींचतान और छींटाकशी 'सर्वोत्कृष्ट' ख़बरिया सामग्री थी। मुसलमान के विचार के ख़िलाफ़ राष्ट्रवादी मुसलमानों की दलीलों को अहमियत दी जाती थी मानो ये दलीलें किसी जन्मजात ज्ञान की उपज हों, विश्वसनीय मुसलमानियत के एक ऐसे दायरे से निकली दलीलें जिस तक उनकी क़ुदरती और ख़ास पहुँच थी।

अपरिहार्य रूप से पाकिस्तान ने इस आदर्श संबंध को भी तहस-नहस कर डाला। जैसे-जैसे अख़बार का स्वर कर्कश होता गया और और जैसे-जैसे उसने इस सुर के हिसाब से एक उचित मुस्लिम 'अन्य' की रचना कर ली, काँग्रेसी मुसलमान भी यूटोपियन और इसीलिए बेभरोसा प्रतीत होने लगे। मुस्लिम राष्ट्र के ख़िलाफ़ एक शब्दजाल की रचना के लिए उस राष्ट्र का, एक एकीकृत मुस्लिम समुदाय का वजूद ज़रूरी था, क्योंकि अगर हिंदूओं को पाकिस्तान के साथ असरदार ढंग से लोहा लेना था तो उन्हें इस बात का अहसास करना होगा कि पाकिस्तान तक़रीबन कहीं भी हो सकता था। असल में, पाकिस्तान का मतलब ही मुसलमान था, कि मुसलमानों के बीच आंतरिक तौर पर कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती, कि सभी मुसलमान – यहाँ तक कि अच्छे-भले पड़ोसी, उलेमा या मोमिन, और राष्ट्रवादी मुसलमान – भी, सभी बुनियादी तौर पर मुसलमान होते हैं। इसके विपरीत कही कोई भी बात, उनकी कोई भी राजनीतिक पहचान हमेशा उनकी स्वाभाविक धार्मिक पहचान से ही तय होगी। राष्ट्रवादी मुसलमानों को लीगी क़िस्म के 'मुस्लिम राष्ट्रवाद' में मिलाकर अख़बार ने एक ऐसे मुस्लिम समुदाय की छवि पेश करना शुरू कर दिया जिसकी ख़ुद मुस्लिम लीग वालों ने भी उम्मीद नहीं की होगी। जो

मुसलमान अब तक काँग्रेसी राष्ट्रवाद के सबसे बड़े प्रतीक थे उन्हें भी अब पिछले दरवाज़े से लीग का समर्थन करने वाला घोषित कर दिया गया। जैसे-जैसे पाकिस्तान नज़दीक आता जा रहा था वर्तमान ने सभी मुसलमानों को उसका संभावित नागरिक बना दिया। उन्हें पाकिस्तानी घोषित कर दिया गया, यथा, उन्हें इस्लामिक होमलैंड के साथ हमदर्दी का दैवी कार्यभार मिला हुआ है।

पाकिस्तान के अहसास ने राष्ट्रवादी मुसलमानों के लिए हालात स्वाभाविक रूप से और मुश्किल बना दिए। उनके नामों से पहले चस्पाँ किया जाने वाला कुतूहलपूर्ण प्रत्यय 'राष्ट्रवादी' मानो रातोंरात पोंछ कर साफ़ कर दिया गया था। उन्हें और भारत में ही रहने का फ़ैसला करने वाले असंख्य अन्य मुसलमानों – जिन्हें नाम से कोई मतलब नहीं था बल्कि जो बस पाकिस्तान के ख़िलाफ़ थे – को 'भारत में बचे रह गए तीन करोड़ मुसलमानों' की अवशिष्ट श्रेणी में बाँध दिया गया जिन्हें उनकी मूलभूमि में ही बंधक बना कर रखना ज़रूरी था। भारतीय राज्य के प्रति उनकी निष्ठा पर संदेह के अलावा और कोई विकल्प संभव नहीं था। अगर वे अपनी निष्ठा का दावा करते तो उन्हें "पंजाब में अपने पाकिस्तानी भाइयों से लड़कर (मार कर पढ़ा जाए)" इसका सबूत देना होगा। महज़ पाँच साले के वक़्फ़े में वे सारे मुसलमान वर्तमान के लिए सिर्फ़ और सिर्फ़ बाहरी, पाकिस्तानी और राष्ट्र के शत्रु बन गए जो कल तक राष्ट्रवादी, लीगी, मोमिन, अहरार, ख़ाकसार, उलेमा, ज़मींदार, किसान, कामगार, पड़ोसी, मर्द, औरत, बच्चे या बंधक थे।[10]

लगभग इसी समय देश भर में हुए दंगों से स्थानीय स्तर पर इस विषैले विमर्श को और बल मिला। स्वाभाविक है कि मरने वालों की तादाद राष्ट्रों और समाजों के बीच किसी तरह का फ़र्क़ नहीं करने वाली थी लेकिन प्रतिस्पर्धी विमर्शों के लिए उसकी प्रासंगिकता ज़रूर थी।[11] *वर्तमान* ने निष्कर्षपूर्वक ऐलान कर दिया "अब यह कहने की कोई ज़रूरत नहीं बची है कि कौन सा समुदाय दंगे शुरू करता है।"

स्थानीय समाचारों (कानपुर डायरी) में इस सैद्धांतिक तर्क के समर्थन में स्थानीय, चिरपरिचित और दैनंदिन उदाहरण पेश किए जाते थे। हालाँकि गड़बड़ी की शुरुआत नवंबर 1946 और अप्रैल 1947 में ही हुई लेकिन शहर की आबोहवा में पहले से ही ख़ूब तनाव बना हुआ था। दोनों समुदायों के बीच आपसी संदेह का भाव साफ़ तौर पर बढ़ता जा रहा था। कानपुर की डायरी में छपी इन ख़बरों और संपादक के नाम ख़तों पर ज़रा नज़र डालिए : चीफ़ की ज़्यादती : हिंदू घरों में गाना-बजाना बंद। यह ख़बर इस बात की प्रतिक्रिया में छपी थी कि उस्मान अली नामक पुलिस इंस्पैक्टर ने स्थानीय मस्जिद के बाहर नमाज के वक़्त चल रहे सालगिरह के जश्न में हो रहे शोर-शराबे को रोकने की हिदायत दी थी। एक और शीर्षक : मियांजी की पैंतरेबाज़ी : रोज़-रोज़ नए शगूफ़े हो रहे हैं। यह ख़बर एक मौलवी के बारे में थी जिसने एक बूढ़ी औरत को मस्जिद के अहाते में कूड़ा फेंकने से मना किया था। और तो और, *वर्तमान* के लिए यह बात भी परेशानी का सबब थी कि "पटकापुर वार्ड के हिंदुओं को राशन की दुकान तक जाने के लिए मुसलमानों की तीन बस्तियों को पार करना पड़ता है जिससे उन्हें बड़ी दिक़्क़त होती है।"

ये छोटी-छोटी घटनाएँ (अगर इन्हें घटना मान लिया जाए तो!) थीं जो प्रेस के ज़रिए ज़रूरत से ज़्यादा बेचैनी का सबब बन रहीं थीं, और कथित ख़तरों के बारे में बढ़ा-चढ़ा कर डर पैदा कर रही थीं। चौरतफ़ा अफ़वाहों से पड़ोसियों के बारे में भी बैचैनी बढ़ती जा रही थी और ऐसी अफ़वाहों के साथ *वर्तमान* का संबंध ज़ाहिर ही था। अफ़वाहों को प्रिंट में जगह मिलती जा रही थी जिससे उन्हें एक तरह की वैधता और विश्वसनीयता मिलती थी। *वर्तमान* हर-मोहल्ले-में-पाकिस्तान के बारे में जो बार-बार आगाह करता था उनका अस्तित्व मोटे तौर पर इस तरह की अफ़वाहों की बदौलत ही था।

'पाकिस्तान संबंधी अफ़वाहों' के साथ *वर्तमान* के बदलते संबंधों के पीछे इस बात का काफ़ी हाथ

था कि खुद पाकिस्तान की सोच के साथ भी उसका संबंध बदलता जा रहा था। चालीस के दशक के शुरुआती सालों (1945 तक) में वर्तमान ने शहर में फैलती अफ़वाहों का मुक़ाबला करने का प्रयास किया। तब उसे हमेशा यही लगता था कि पाकिस्तान तो बस एक शगूफ़ा भर है। अख़बार इस आशय की अफ़वाहों को यह कहकर ख़ारिज करता रहा कि ये गुडों की कारस्तानी है जो शहर में कारोबार को अस्त–व्यस्त करके फटाफट अपने घर भरना चाहते हैं। यहाँ तक कि नोवाखली और बिहार दंगों के बाद भी (मनोरंजन) कानपुर वालों से आह्वान करता रहा कि वे "शहर में फैलायी जा रही बड़ी–बड़ी अफ़वाहों से दूर रहें।"[12] *वर्तमान* ने तमाम तरह की अफ़वाहों से एक व्यंग्यपूर्ण दूरी बनाए रखी – यहाँ तक कि अख़बार पाकिस्तान को भी महज़ एक भारी अफ़वाह ही मानता रहा जिस पर फुसलावे में आ जाने वाले, भोले–भाले और अनपढ़ मुसलमानों के अलावा और कोई यक़ीन नहीं करता।

लेकिन जैसे–जैसे पाकिस्तान ठोस और प्रत्यक्ष रूप ग्रहण करता गया, *वर्तमान* ने फ़ासले और संयम का यह रास्ता भी छोड़ दिया। अफ़वाहों और गपबाज़ी से दूर रहने का आह्वान करने की बजाय अख़बार ने पाकिस्तानी, यानी मुस्लिम कारस्तानियों और महत्वाकांक्षाओं की ओर इंगित करने के लिए मनगढ़ंत (unauthenticated) रिपोर्टें छापना शुरू कर दिया। कानपुर के मुस्लिम बहुल इलाक़ों में कुछ हथियारों की बरामदगी के बाद यह दहशतज़दा छींटाकशी और भी बढ़ गयी। हर मुसलमान के पास हथियारों के जखीरे होने की बात फैलायी जाने लगी। कहा जाने लगा कि उनके पास फ़ील्ड राइफ़ल्स, मोर्टार गन्स, टॉमी गन्स, सब तरह के हथियार भरे पड़े हैं। कथित तौर पर, मुसलमानों के घरों से बाग़वानी के औज़ारों और रसोई में इस्तेमाल होन वाले चाकुओं के साथ–साथ मशीनगनें भी बरामद होने लगीं। *वर्तमान* का तो यहाँ तक दावा था कि अगर मुस्लिम पुलिस अक्सर अपराधी क़िस्म के मुसलमानों को शह न देते तो और भी बहुत सारे हथियार बरामद हो जाते। हर अफ़वाह ख़बर का दर्जा पा चुकी थी और अख़बार में छपे होने से उसे वैधता भी मिल जाती थी, सो अलग। वैसे भी, एक बिंदु के बाद इस बात का कोई महत्त्व ही नहीं था कि *वर्तमान* में जो कुछ छपा है वह सच है या नहीं। क्योंकि, अगर ये रिपोर्टें सच थीं तो भी ख़बर के तौर पर उनका महत्त्व सिर्फ़ इसीलिए था क्योंकि उनका संबंध सर्वसमावेशी पाकिस्तान से था। क्या ख़बर है और किसकी रिपोर्टिंग होनी चाहिए यह बात दंगों में मुसलमानों की मिलीभगत से और पाकिस्तान के प्रति उनके समर्थन से निर्धारित होती थी। ख़बरों के साथ जोड़–तोड़ की बजाय लगता है कि यहाँ orchestration की एक प्रक्रिया काम कर रही थी।[13] दहशत का भाव पैदा करने और उसे अस्थिर राजनीतिक हालात में स्थित करते हुए *वर्तमान* अपने पाठकों की चिंताओं को ध्वनित और पुष्ट कर रहा था और साथ ही विभाजन के बारे में अपने विमर्श को और परिपूर्ण व परिपक्व बनाने के लिए सोचने के मौजूदा तरीक़ों का सहारा ले रहा था।

कानपुर के लोगों के लिए पाकिस्तान कहीं पंजाब या बंगाल में या यहाँ तक की अलीगढ़ और लखनऊ में भी नहीं था। यह तो भयानक रूप से उनके नज़दीक और उनके सामने था। इस दौरान पाकिस्तान को शगूफ़ा कहने से बचने का न कोई अवसर था और न कोई औचित्य। न ही पाकिस्तान के विचार को अस्थिर साबित करने की कोई वजह थी। जिस स्थानीय शब्दावली में वर्तमान पाकिस्तान की रूपरेखा खीचंता था और जिन दलीलों व उपमाओं के ज़रिए वह विभाजन को सामने लाता था, उससे पाकिस्तान संयुक्त प्रांत के पैमाने पर ही एक खतरनाक हकीकत बन चुका था। शहर के बहुत सारे लोगों के लिए, ख़ासतौर से ऐसे लोगों के लिए जो कि वर्तमान की दलीलों पर विश्वास करते थे, पंजाब और बंगाल उस ड्रामे के सिर्फ़ शुरुआती बिंदु थे जो स्वयं संयुक्त प्रांत, और ऐन कानपुर में खेला जाने वाला था।

इस बारे में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि वर्तमान ने विभाजन को कानपुर व उसके निवासियों को अपने आगोश में ले लेने वाले एक फ़ौरी व अदम्य महाविनाश के रूप में *वर्तमान* का रूप दे दिया था। वर्तमान शहर में प्रलय का ऐलान करने वाले बहुत सारे स्रोतों में से सिर्फ़ एक स्रोत था। लेकिन

यह एक ऐसा अख़बार था जिसके लिए विभाजन और पाकिस्तान का सवाल तमाम दूसरे सवालों से बहुत बड़ा था। दो साल से कुछ ही ज़्यादा वक्फ़े (1945 से 1947) में वर्तमान ने अपने नायक, अपना एजेंडा और अपनी भाषा, सब कुछ बदल डाला। उसने पाकिस्तान विरोध से चलकर मुस्लिम विरोध तक का सारा रास्ता तय कर लिया। इस प्रक्रिया में यह अख़बार कानपुर के बदलते चरित्र और उसके बदलते हुए राजनीतिक रुझानों का प्रतिबिंब था। लगभग 1944 से वर्तमान में पाकिस्तान लगातार एक ऐसा प्रतीक रहा जो खालिस स्थानीय था और जिसे किसी भी ख़बर को चटपटी बनाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था। उसे कहीं काट-छाँट कर तो कहीं फैला कर इस्तेमाल किया जाता था। उसकी मौजूदगी को एक फ़ौरी अहसास दिया जाता था हालाँकि उसके अर्थ ऐसे थे कि उसे सामाजिक और राजनीतिक, दोनों तरह का समुदाय माना जा सकता था। *वर्तमान* के विमर्श में पाकिस्तान ने तरह-तरह के अर्थ और असंख्य रंग ग्रहण किए जिन्हें उसकी वृहत्तर और 'राष्ट्रीय' वास्तविकता में बमुश्किल ही समाहित किया जा सकता था।

नोट्स

1. यह लेख ट्रांसलेटिंग पार्टीशन, सं. रविकांत एवं तरुण के. सेंट, कथा, नयी दिल्ली में संकलित एक आलेख का संक्षिप्त रूप है।

2. इमेजिंड कम्युनिटीज़ : रिफ़्लेक्शंस ऑन दि ऑरिजिंस ऐंड स्प्रेड ऑफ़ नैशनलिज़्म, बेनेडिक्ट ऐन्डर्सन, संशोधित संस्करण, वर्सो, लंदन, 1991, पृ. 33

3. चालीस के दशक में यह विलम्ब अपरिहार्य कारणों से और भी ज़्यादा रहा। दैनिक समाचारपत्रों के मामले में लगभग दो दिन (राष्ट्रीय महत्त्व की घटनाओं के विषय में) पहले और साप्ताहिकों के मामले में लगभग आठ से दस दिन।

4. दि होल वर्ल्ड इज़ वॉचिंग, टी. जिल्टिन, कैलिफ़ोर्निया युनिवर्सिटी प्रेस, 1980, पृ. 2

5. "दि डिटर्मिनेशन ऑफ़ दि न्यूज़ फ़ोटॉग्राफ़", स्टुअर्ट हॉल, सं. एस. कोहेन एवं जे. यंग दि मेन्युफ़ैक्चर ऑफ़ न्यूज़, कॉन्स्टेबल, लंदन, 1973, पृ. 183

6. एडवर्ड सईद, कवरिंग इस्लाम, पैंथियॉन बुक्स, न्यूयॉर्क, 1981, पृ. 43

7. विभाजन की व्याख्या करने के लिए अकसर परिवार में होने वाले बँटवारे का दृष्टांत दिया जाता था जिसमें हिंदू-मुसलमानों को प्राय: दो भाइयों की संज्ञा दी जाती थी। इन कुदरती-से लगने वाले विवरणों को विभाजन के संदर्भ में अभी भी देखा जा सकता है। आज़ादी और विभाजन की पचासवीं वर्षगाँठ के अवसर पर सामने आए साहित्यिक और पत्रकारी लेखन में इस दृष्टांत को बार-बार देखा जा सकता है।

8. फ़लस्वरूप, जहाँ एक तरफ़ महात्मा गांधी और जवाहर लाल नेहरू के भाषणों को हमेशा भाषण, विचार और/या उद्गार कहा जाता था वहीं मोहम्मद अली जिन्ना और लीग के अन्य नेताओं के भाषणों को प्रलाप, बहक और/या धमकी की संज्ञा दी जाती थी: "लीगियों की उछलकूद", *वर्तमान*, 24. 11.1945, पृ. 6 "मिस्टर जिन्ना का प्रलाप", *वर्तमान*, 11.03.1946, पृ. 2.

9. सभी उद्धरण *वर्तमान* से हैं। जो उद्धरण कहीं और से लिए गए हैं उनका स्रोत स्पष्ट कर दिया गया है।

10. "चार्जशीट", संपादकीय, *वर्तमान*, 2.10.1947, पृ. 2. यह अत्यंत घृणापूर्ण संपादकीय महात्मा गांधी के जन्मदिन पर प्रकाशित हुआ जिस दिन आम तौर पर उनके लिए प्रशंसा और मुबारकबाद के

संदेश छापे जाते थे। गांधीजी की लाचारी को इससे ज़्यादा और किसी बात से नहीं समझा जा सकता। "प्रगति", संपादकीय, *वर्तमान*, 12.11.1947, पृ. 2.

11. वर्तमान में मृदुला साराभाई की उस जांच रिपोर्ट को उद्धृत तो किया गया जिसमें उन्होंने गढ़मुक्तेश्वर दंगों के लिए काँग्रेस को ज़िम्मेदार ठहराया था लेकिन अख़बार की नज़र में यह रिपोर्ट इसलिए दोषपूर्ण थी क्योंकि उसमें "मुसलमानों की इस साजिश को नज़रअंदाज़ कर दिया गया था कि दंगा फैलाते हुए वे राष्ट्रवादी नारे लगा रहे थे ताकि सारा दोष काँग्रेस के सिर आ जाए।" लेकिन इसके बाद अख़बार में इस जाँच या उसके निष्कर्षों का कभी कोई ज़िक्र नहीं आया।

12. "यह शहर अफ़वाहों से अंट गया है। पत्रकार भी भला क्या लिखें? यहाँ के लोगों के ज़हन में ऐसी–ऐसी अफ़वाहें उपजती हैं कि निहायत तर्कवान लोग भी बावले हो जाएँ", "काम्पू शरीफ़", "मनोरंजन", *वर्तमान*, पीछे उद्धृत।

13. इमेजेज़ ऑफ़ वेलफ़ेयर, पी. गोल्डिंग एवं एस. मिड्ल्टन, उद्धृत, राल्फ़ नैग्रीन, पॉलिटिक्स ऐंड दि मास मीडिया इन ब्रिटेन, लंदन, रटलेज, 1994, पृ. 129.